तपः साधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान

—राजीव प्रचंडिया
(एडवोकेट)

आज हम और हमारा विकास के उत्तुंङ्ग शिखर पर है, नये-नये उपकरण, आधुनिक-अत्याधुनिक साधन-प्रसाधन हमने ईजाद/हासिल किये हैं। आज हमारे पास सब कुछ है, किन्तु इस सब कुछ में हमारे बीच जो होना चाहिये, वह नहीं है, यह एक बिडम्बना है। स्थायी सुख-शान्ति अर्थात् आनन्द से हम प्रायः वंचित हैं। वह आनन्द जो न कभी समाप्त होने वाला अक्षय कोष/निधि है, जो हमें मोक्ष के द्वार अर्थात् मुक्ति के पार पर ला खड़ा करता है, हमसे न जाने कहाँ गुम हो गया है और हाथ आये हैं मात्र आकर्षण-विकर्षण के रंग-बिरंगे परिधान, नष्ट होने वाली नाना प्रकार की सम्पदायें, बोलती-अबोलती आपदायें-विपदायें जिनसे सारा का सारा जीवन बाह्य/संसारी प्रभावों में घिर/उलझ जाता है अर्थात् संसार-सागर में डूबता-उतराता रहता है। फलस्वरूप सहजता की ओट में कृत्रिमता मकड़जाल सदृश अपना ताना-बाना बुनने लगती है और हम सब कृत्रिममय होने की होड़ में आज व्यस्त हैं, अस्तु त्रस्त-संत्रस्त हैं। यह सच है, कृत्रिम जीवन से जीवन में तनाव आता है। तनावों से संपृक्त जीवन में असलियत की अपेक्षा दिखावटपने का अंश लगभग शत-प्रतिशत बना रहता है। एक अजीब प्रकार की घुटन, बैचेनी, उकताहट, एक दूसरे में अविश्वास के दौर से हम संसारी जीव बाहर कुछ-भीतर कुछ में जीने लगते हैं। ये कुछ ही तो विकृतियों को जन्म देते हैं, रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियाँ इनसे उद्भूत होती हैं। जब हमारा जीवन इन दूषित वृत्तियों में सिकुड़-सिमट कर रह जाता है तब जीवन में बसन्त नहीं, पतझड़ का आना होता है, आज व्यक्ति/समाज/राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्र में चारों ओर जो पतझड़ छा रहा है दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण, उसका मूल कारण है हम तपः साधना से हटकर भोग-वासना की दिशा में भटक रहे हैं। यह निश्चित है कि तप से जीवन में बसंत आता है और भोग से पतझड़। तपःसाधना जीवन को नम्रता, वत्सलता, दया, प्रेम, वसुधैव कुटुम्बकम् की आस्था, सहनशीलता-सहिष्णुता, क्षमादिक उदात्त भावनाओं/मानवीय गुणों से अभिसिंचित करती है जबकि भोग में अहंकारिता, कटुता, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, संघर्ष, संकीर्णतादिक अमानवीय/घातक तत्वों का समावेश रहता है। निश्चय ही तपःसाधना में तृप्ति है, जबकि भोग-वासना में वृत्ति है, विकास है कामनाओं का। जितने भोग वासनाओं के हेतु, उपकरण, साधन-सुविधाएँ जुटायीं जाएगीं, अतृप्ति उतनी ही अधिक उद्दीप्त होगी, तब जीवन में बसन्त अर्थात् अनन्त आनन्द नहीं, अपितु पतझड़ अर्थात् विभिन्न काषायिक भाव जो हमारे अस्तित्व, यथार्थ स्वरूप-स्वभाव को धूमिल किये हुए हैं, परिलक्षित/विकसित होंगे। ऐसी स्थिति-परिस्थिति में तप की उपयोगिता-उपादेयता असंदिग्ध है।

प्रस्तुत आलेख में 'तपःसाधना और आज की जीवन्त समस्याओं के समाधान' नामक विशद किन्तु परम उपयोगी एवं सामयिक विषय पर संक्षेप में चिन्तन करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

भारतीय संस्कृति—वैदिक, बौद्ध तथा जैन—सभी में संसारी जीव के अन्तःकरण की शुद्धता/पवित्रता तथा मोक्ष-प्राप्ति/कर्ममुक्ति पर अत्यधिक बल दिया है अर्थात् जीवन का लक्ष्य ज्ञान-ध्यान-तप पर केन्द्रित किया गया है। तप भारतीय साधना का प्राण-तत्त्व है क्योंकि उससे व्यक्ति का बाहर-भीतर समग्र जीवन परिष्कृत/परिशोधित होता हुआ उस चरम बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ से व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह जाता है अपितु परमात्म अवस्था अर्थात् परमपद/सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है। तप की इस महिमा-गरिमा को देखते हुए वेद-आगम-पिटक सभी एक स्वर से तप को भौतिक सिद्धि-समृद्धि का प्रदाता ही नहीं अपितु आध्यात्मिक तेज-शक्ति-समृद्धि का प्रदाता भी स्वीकारते हैं। तपःसाधना से लब्धि-उपलब्धि, ऋद्धि-सिद्धि, तैजस् शक्तियाँ, अगणित विभूतियाँ सहज ही प्रकट होने लगती हैं।[1] अर्थात् तप से सर्वोत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी प्राप्ति तप से द्वारा न हो सके।[2] तप से प्राणी संसार में विजयश्री एवं समृद्धि प्राप्त कर[3], संसार की रक्षा कर सकता है।[4] संसार की कोई भी शक्ति तपस् तेज के सम्मुख टिक नहीं सकती।[5] वास्तव में तप मंगलमय है, कल्याणकारी है, सुख प्रदाता है।[6] वह समस्त बाधाओं, अरिष्ट उपद्रवों को शमन करता हुआ क्षमा, शान्ति, करुणा, प्रेमादिक दुर्लभ गुणों को प्राप्त कराता हुआ मोक्ष-पुरुषार्थ को सिद्ध कराता है, अस्तु, वह लौकिक-अलौकिक दोनों ही हित का साधक है।[7] निश्चय ही तप के द्वारा हर प्राणी/जीव, आत्मस्वरूप के दर्शन कर आनन्द की अनुभूति करता है। तपःसाधना व्यक्ति को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, बहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर ले जाने में प्रेरणा-स्फूर्ति का संचार करती है, क्योंकि बाहर कोलाहल/हलचल है, दूषण/प्रदूषण है, जबकि भीतर निःस्तब्धता, निश्चलता, शुद्धता है।

विश्व के समस्त दर्शनों में भारतीय दर्शन और भारतीय दर्शन में जैन-दर्शन का अपना स्थान है। जैन-दर्शन में जहाँ आचार-विचार, इतिहास, संस्कृति, कला-विज्ञान, भूगोल, खगोल-ज्योतिष आदि विविध पक्षों का तलस्पर्शी विवेचन हुआ है, वहाँ साधना-पक्ष में तपःसाधना की विवेचना भी सूक्ष्म तथा तर्कसंगतता लिये हुए है। जैनदर्शन के तप की स्वरूप-पद्धति अन्य दर्शनों की तपःसाधना से सर्वथा भिन्नता रखती है। बौद्ध धर्म में तप की श्रेष्ठता-निकृष्टता पर[8] वैदिक धर्म में तप तैजस् के अर्थ में,[9] साधना के रूप में[10] तथा स्वरूप और ध्येय की दृष्टि से[11] विशद विवेचना की गई है जबकि जैत धर्म में आत्मविकास में सहायक तप की प्रत्येक क्रिया पर अर्थात् तप के समस्त अंगों पर वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।[12] जैन दर्शन निवृत्तिपरक होने के फलस्वरूप हठयोग अर्थात् तन-मन की विवशता, उस पर बलात् कठोरता के अनुकरण की अपेक्षा सर्वप्रथम साधना की भावभूमि को तैयार कर तन/शरीर को तदनुरूप किया जाता है। अनवरत अभ्यास/साधना की यह प्रक्रिया शनैः शनैः बाह्य और अन्तःकरण को परिमार्जित करती हुई साधक को तप-साधना में प्रवेश हेतु प्रेरणा प्रदान करती है। यहाँ इस साधना में शरीर-कृशता की अपेक्षा कार्मिक-कषायों की कृशता पर मुख्य रूप से बल दिया गया है क्योंकि जिस तप से आत्मा का हित नहीं होता, वह कोरा शारीरिक तप निश्चय ही निस्सार है।[13] जैन दर्शन की मान्यता है कि संसारी जीव राग-द्वेषादिक/काषायिक भावों अर्थात् विविध कर्मों से जकड़ा होने के कारण अपने आत्मस्वरूप-स्वभाव (अनन्त दर्शन-ज्ञान, अनन्त आनन्द-शक्ति आदि) को विस्मरण कर अनादिकाल से एक भव/योनि से दूसरे भव/योनि में अर्थात् अनन्त भवों/योनियों में इस संसार-चक्र में परिभ्रमण करता हुआ अनन्न दुःखों संक्लेशों-विकल्पों में जीता है, अतः दुःखों से निवृत्ति/कर्मबन्ध से मुक्ति अर्थात् आत्म-विकास हेतु/मोक्ष प्राप्त्यर्थ साधना का निरूपण जैन दर्शन का मुख्य लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य हेतु जो साधना की जाती है, वह साधना वस्तुतः तप कहलाती है।[14] नारकी-तिर्यञ्च-देवों-मनुष्यों में मात्र मनुष्य ही तप की आराधना, संयम की साधना कर,[15] अविरति (हिंसा-झूठ-प्रमाद आदि), कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) से विमुक्त होता हुआ तथा कर्मों की संवर-निर्जरा करता हुआ[16] वीतरागता की ओर प्रशस्त होता है। इसलिये जैन दर्शन में सांसारिक सुखों, फलेच्छाओं, एषणाओं, सांसारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवंचनाओं हेतु किये जाने वाले तप की अपेक्षा[17] सम्यग्-दर्शन (आस्रवादि तत्वों को सही-सही रूप में जानना और उन पर श्रद्धान रखना)—ज्ञान (पर-स्वभेद बुद्धि को समझना)—चारित्र (भेदविज्ञानपूर्वक स्व में लय करना) रूपी रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिये, इष्टानिष्ट, इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा का विरोध करने की अपेक्षा निरोध करने के लिये किये जाने वाले तप ही सार्थक तथा कल्याणकारी माने गये हैं।[18]

जैन दर्शन में मर्यादा, व्यवस्था, नियम-विधि उसकी हेयता-उपादेयता आदि पर जो वैज्ञानिक-विश्लेषण हुआ है, वह विश्व के अन्य दर्शनों में दृष्टिगोचर नहीं है। स्वरूप और महत्तादि की दृष्टि से यहाँ तप अनेक संज्ञाओं—सरागतप, वीतरागतप, बालतप तथा अकामतप[19] से अभिहित है। रागादिक व्यामोह के साथ अर्थात् भौतिक प्रतिष्ठा/वैभव-ऐश्वर्य की आकांक्षा, यशलोलुपता, स्वर्गिक सुख प्राप्ति हेतु किया गया तप, सरागतप, राग मेटने अर्थात् कर्म-शृंखला से मुक्त, कषायों से अप्रभावीतप, वीतरागतप, यथार्थ ज्ञान के अभाव में अर्थात् अज्ञानता पर आधारित मिथ्यादृष्टिपरक तप, बालतप/अज्ञानतप तथा तप की इच्छा के बिना परवशता-विवशतापूर्वक किया गया तप वस्तुतः अकाम तप कहलाता है। वास्तव में अकाम तप कोई तप नहीं, यह तो मात्र शारीरिक-कष्ट-व्यायाम है। बालतप कर्मबन्ध के हेतु हैं।[20] इसमें कषाय शीर्णता की अपेक्षा पुष्टता प्राप्त करते हैं, अस्तु ये तप सर्वथा त्याज्य हैं। सराग तप में राग विद्यमान होने से निम्न स्तर का माना गया है, इसके करने से मिलने वाले फल भी क्षणिक-अल्पमात्रा में होते हैं।[21] किन्तु वीतरागता से अनुप्राणित तप उत्कृष्ट कोटि का उत्तम फल देने वाला होता है, इसमें समस्त राग-द्वेष का समापन होता है और समता-विराटता के दर्शन होते हैं।[22]

जैन दर्शन आत्म-विकासवादी दर्शन है। आत्मा के विकास में एक सातत्य क्रम है, श्रेणीबद्धता है तथा अस्खलित साधना है। इस दृष्टि से जैन दर्शन में तप को मूलतः दो भागों में विभाजित किया गया है—एक बाह्य तप जिसके अनशन, ऊनोदरी/अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान/भिक्षाचरी, रस-परित्याग, काय-क्लेश, प्रतिसंलीनता/विविक्त शय्यासन नामक छह प्रभेद हैं, तथा दूसरा आभ्यन्तर तप जिसमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग/कायोत्सर्ग नामक तप समाविष्ट हैं।[23] बाह्य तप बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है, इसे दूसरों के द्वारा देखा जा सकता है। इसमें इन्द्रिय-निग्रह होता है किन्तु आभ्यन्तर तप में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा अन्तरंग परिणामों की प्रमुखता रहती है। दूसरों की दर्शनीयता की नहीं अपितु आत्म-संवेदनशीलता, एकाग्रता, भावों की शुद्धता-सरलता की प्रधानता रहती है।[24] तप.साधना में दोनों प्रकार के तपों का विशेष महत्व है। साधना में जाने वाला साधक सर्वप्रथम बाह्य तपान्तर्गत 'अनशन' में प्रवेश करता है तदनन्तर शनैः-शनैः अभ्यास करता हुआ तथा अनवरत साधना क्रम/बिन्दुओं से गुजरता हुआ आभ्यन्तर तपान्तर्गत ध्यान-व्युत्सर्ग में प्रवेश कर साधना की परिपूर्णता को प्राप्त करता हुआ आत्मा की चरमोत्कर्ष स्थिति में पहुँच जाता है। साधना की इस प्रक्रिया में यदि साधक बाह्यतप में दर्शित बिन्दुओं/भेदों में कदाचित परिपक्वता प्राप्त नहीं कर पाता तो निश्चय ही वह आभ्यन्तर तपः साधना के क्षेत्र में सही रूप में प्रवेश नहीं कर सकता अर्थात् बाह्यतप के बिना अन्तरंग तप और अन्तरंग तप के बिना बाह्यतप निरर्थक प्रमाणित होते हैं, इनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, शाश्वत है।

(१) अनशन

तपःसाधना के क्षेत्र में प्रविष्ट साधक को सर्वप्रथम अनशन तप के सम्पर्क में आना होता है। अनशन तप के विषय में जैनागमों में विस्तृत चर्चा की गई है। ऐसी कोई भी क्रियायें जो तीन गुप्तियों-मनसा-वाचा-कर्मणा से भोजन लेने में निमित्त का कार्य करती हैं, उन समस्त क्रियाओं का त्यागना-छोड़ना अनशन कहलाता है।[25] अनशन का अर्थ है—आहार का त्याग। चित्त की निर्मलता व्यक्ति के भोजन/आहार पर निर्भर हुआ करती है। अपरिमित-असेवनीय/असात्विक/अमर्यादित/असन्तुलित आहार जीवन में आलस्य, तन्द्रा-निद्रा, मोह-वासना आदि कुप्रभावों/कुत्सित वृत्तियों को उत्पन्न कर साधना में व्यवधान उत्पन्न करता है, अस्तु आहार का त्याग शक्त्यानुसार सावधि अथवा जीवनपर्यन्त तक के लिये किया जाता है। सावधि में यह कम से कम एक दिन-रात्रि, उत्कृष्ट छह महीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा एक वर्ष की अवधि तक का होता है।[26] आहार-त्याग अवधि की इस निश्चितता और अनिश्चितता के आधार पर अनशन के दो भेद जैनागम में किये गये हैं—एक इत्वरिक और दूसरा यावत्कालिक।[27] इत्वरिक में आहार-त्याग की सीमा निर्धारित-निश्चित रहती है अर्थात् भोजन की आकांक्षा सीमा-समाप्ति के बाद बनी रहती है। यह सावकांक्ष, इत्तिरिय, अवधृतकाल, अद्धानशन, उपवास आदि संज्ञाओं में अभिहित है। जबकि यावत्कालिक में सीमावधि नहीं रहती है, इसमें पुनः आहार ग्रहण करने की आकांक्षा समाप्त हो जाती है। यह भी यावज्जीव, यावत्कथिक, यावज्जीवित, अनवधृतकाल, सर्वानशन, सकृदभुक्ति आदि नामों में उल्लिखित है।[28] इत्वरिक और यावत्कालिक अनशन के अनेकानेक प्रभेद जैनागम में स्पष्टतः परिलक्षित हैं।[26] जो आहार त्यागने की सीमा और प्रवृत्ति को दर्शाते हैं।

आहार त्यागने का मूलोद्देश्य शरीर से उपेक्षा, अपनी चेतनवृत्तियों को भोजनादि के बन्धनों से मुक्त करना, क्षुधादि में साम्यरस से च्युत न होना अर्थात् सर्व प्रकार की इच्छा-आसक्ति के त्यागने से रहा है। शरीर एवं प्राणों के प्रति ममत्व भावों का विसर्जन अर्थात् समस्त तृष्णाओं का समापन तथा अन्तरंग में विषय-विकारों/कर्म-कषायों से विमुक्ति/निर्जरा एवं आत्मबल की वृद्धि हेतु आहार का त्याग परमापेक्षित है।[30] निश्चय ही आहार-त्याग से प्राण-मन-इन्द्रिय संयम की सिद्धि होती है जिससे संसारी प्राणी समस्त पापक्रियाओं से मुक्त होकर, सम्पूर्ण अहिंसादिव्रत का पालन करता हुआ महाव्रती बनता है।[31]

आहार-त्याग अर्थात् अनशन आध्यात्मिक जीवन में/साधना के क्षेत्र में तो उपयोगी है ही, साथ ही अनेकानेक सांसारिक समस्याओं के निराकरण का एक अमोघ साधन भी है। हिंसा, आक्रोश, द्वेष, राग की वह्नि घर-समाज, राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो आज प्रज्वलित है, उसका मूल कारण है अनशन तप की अनुपस्थिति। यह निश्चित है कि व्यक्ति का उदर अन्न के अभाव में अथवा अन्न की अतिरेकता में अपराध, संक्लेश, अनैतिक तथा अपवित्रपूर्ण जीवन जीने को बाध्य करता है। इस अनशन तप से व्यक्ति भूख पर तो विजय प्राप्त कर ही लेता है साथ ही मानसिक-विकारों से दूर रह सकता है। जो अनशन वयक्तिक अधिकारों का हनन अथवा अन्याय शोषण घटित होने पर किया जाता है, उसे जागतिक अनशन कहा जाता है। इसमें विवशता का प्राधान्य रहता है जबकि आध्यात्मिक साधना में अनशन अन्तश्चेतना को जाग्रत करता है। आत्म-विकास-साधना का यह पहला चरण निश्चय ही वह मजबूत आधारशिला है जिस पर चढ़कर साधक निर्बाध रूप से आगे बढ़ता है।

२ ऊनोदरी

जैन दर्शन की मान्यतानुसार शरीर मोक्ष-साधना के लिये बना है, भोगवासना के लिये नहीं, अस्तु आत्म-विकास में भूख की अपेक्षा हूक की आवश्यकता रहती है। इस तप का अर्थ भी यही है—आहारादि, कषायादि, उपकरणादि तथा वस्तुसंग्रहादि की कमी करना/रखना अर्थात् कम से कम परिग्रह करना अर्थात् तृप्ति करने वाला तथा दर्प उत्पन्न करने वाला ऐसा जो आहार, उसका मन, वचन, कायरूप तीनों योगों से त्याग करना।[32] जिससे आत्मसाक्षात्कार अर्थात् वीतराग-मार्ग में कोई किसी भी प्रकार का व्यवधान-बाधा उत्पन्न न हो सके। योगपरक जीवन चर्या में साधक की संग्रह/इच्छावृत्ति के संयमन के आधार पर इस ऊनोदरी[33]/अवमौदर्य[34]/अवमौदरिका[35] तप के अनेक भेद-प्रभेद जैनागमो में वर्णित हैं।[36] वास्तव में यह तप संयम साधना/संकल्प-साधना के लिये किया जाता है।[37] संयम से मन-इन्द्रियजन्य व्यापार अर्थात् कषायजन्य विकार (काम-क्रोध-मान-माया-लोभ) शिथिल हुआ करते हैं। स्पष्ट है कि मन और इन्द्रियों को संयत किये बिना और लालसाओं को वश में किये बिना न व्यक्ति के जीवन में तुष्टि आ सकती है और न समाज, राष्ट्र या विश्व में ही शान्ति स्थापित हो सकती है। निश्चय ही यह संयमवृत्ति जीवन जीने की कला का मार्ग प्रस्तुत करती है। यह सयम आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ-साथ व्यावहारिक क्षेत्र अर्थात् आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी परम उपयोगी एवं कल्याणकारी प्रमाणित हुआ है। यह निश्चित है कि संयम के अभाव में एक दूसरे को हड़पने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी जिससे भय, अशान्ति, संघर्ष नये-नये रूपों में जन्म लेकर विकसित होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायेंगे। खाद्य संयम की प्रवृत्ति तथा अनावश्यक संचय वृत्ति की कमी आज के अर्थ-वैषम्यजनित सामाजिक समस्याओं का एक सुन्दर समाधान है। राष्ट्रपिता का यह कथन कि "पेट भरो, पेटी नहीं," इस तप के व्यावहारिक रूप की सार्थकता से अनुप्राणित है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आवश्यकता से कम किन्तु उससे अधिक पचाया गया प्रकृति अनुरूप भोजन व्यक्ति को आरोग्य बनाता है।[38] यह निश्चित है कि इस तप के परिपालन से व्यक्ति नीरोग-स्वस्थ रहता हुआ सम्यक् आराधना कर आनन्दसीमा को स्पर्श कर सकता है। आज जहाँ एक ओर विकास के नाम पर मात्र भोग और शौक हेतु सुन्दर से सुन्दरतम आकर्षक फैशनेबुल वस्त्रों-उपकरणों, साज-सज्जा के सामान, शारीरिक सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु लिपस्टिक, क्रीम, पाउडर आदि तथा चमड़े से विनिर्मित वस्तुओं का प्रयोग, भोग-उपभोग, जिनसे न केवल तिर्यंचगति के अनगिनत जीवधारियों/प्राणधारियों का हनन ही होता है, अपितु इन चीजों के सेवन करने वाले स्वयं अनेक आपदाओं-विपदाओं तथा मानसिक-शारीरिक विकारों/तनावों/कष्टों से ग्रसित होते हों, वहाँ तप का यह ऊनोदर भाव कितना सार्थक प्रतीत होगा, यह कहने की नहीं, अपितु अनुभवगम्य है। निश्चय ही इनमें उलझे व्यक्तियों को यह तप राहत देगा तथा एक नयी दिशा दर्शाएगा।

३. भिक्षाचरी

साधना के क्षेत्र में व्यक्ति को भोजन की कम, भजन की आवश्यकता अधिक रहती है। वृत्तिपरिसंख्यान[39]/वृत्तिसक्षेप[40]/भिक्षाचर्या अथवा भिक्षाचरी[41] नामक तप में भोजन, भाजन आदि विषयों से सम्बन्धित रागादिक दोषों के परिहार्य हेतु व्यक्ति आत्म-विकास की साधना करता है। साधना में शरीर व्यवधान उत्पन्न न करे इसके लिये साधक को अभिग्रह अर्थात् नियम-प्रतिज्ञा-संकल्पादि तथा सन्तोष वृत्ति-समताभाव के साथ विधिपूर्वक निर्दोष आहार/भिक्षाग्रहण करना होता है।[42] भोजन/आहार में संकल्पादि, परिमाण, संख्यादि-नियमादि के आधार पर जैनागम में इस तप के अनेक भेद-प्रभेद स्थिर किये गये हैं।[43]

'भिक्षाचरी' शब्द श्वेताम्बर परम्परा में गोचरी[44]/मधुकरी[45] से सम्बोधित किया जाता है। जिस प्रकार गाय स्थान-स्थान पर सूखा-हरा चारा बिना भेदभाव के चरती जाती है तथा भ्रमर पुष्प को बिना क्षति पहुँचाए, अपना भोजन/पराग ग्रहण करता चलता है, उसी प्रकार श्रमण साधक भी भोजन-विशेष के प्रति ममत्व भाव न रखते हुए मात्र साधना हेतु शरीर संचालन हो सके इस भावना के साथ अपनी उदर पूर्ति करता है। इस तप का दिन-प्रतिदिन किये जाने का निर्देश जैनधर्म में स्पष्टतः परिलक्षित है क्योंकि इससे साधक आहार कम करता हुआ शरीर को कृशकर सलेखना धारण करता है।[46] भिक्षाचरी का एक ही उद्देश्य है कि साधक में भोजन/आहार के प्रति राग की शनैः शनैः कम होते जाने की प्रवृत्ति और यह वृत्ति साधक के स्वयं भीतर के प्रस्फुटित होती है, किसी बाह्य-विवशता से नहीं। वास्तव में इस तप के माध्यम से व्यक्ति-व्यक्ति में आहार/भोजन पर जय-विजय प्राप्त करने की शक्ति जाग्रत होने लगती है। फिर साधक का ध्यान भोजन, नाना व्यंजनों-पकवानों में नहीं, साधना के विविध आयामों में रमण करता है।

४. रस-परित्याग

इन्द्रियनिग्रह हेतु, आलस्य-निद्रा पर विजय प्राप्त्यर्थ तथा सरलता से स्वाध्याय-सिद्धि के लिये सरस व स्वादिष्ट, प्रीतिवर्धक तथा स्निग्ध आदि भोजन का मनसा-वाचा-कर्मणा के साथ यथासाध्य त्याग, रस-परित्याग तप कहलाता है।[47] तपःसाधना में रस, विकृति, चंचलता अर्थात् उत्तेजना उत्पन्न कर साधक के लक्ष्य में नाना प्रकार के व्यवधान उत्पन्न करते हैं। साधना के मार्ग में इनसे अवरुद्धता आती है। अस्तु रस अर्थात् दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि साधना के लिये सर्वथा त्याज्य हैं।[48] निश्चय ही ये रस विकृति एवं विगति के हेतु हैं।[49] इन रसों के त्यागने की विधि-नियम-प्रक्रिया-संख्यादि के आधार पर यह तप जैनागम में अनेक भागों में विभाजित किया गया है।[50]

आज जहाँ एक ओर भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान न रखते हुए अभक्ष्य अर्थात् मांस, अण्डे, मद्य (शराब), धूम्रपान आदि का सेवन, आधुनिक-अत्याधुनिक, साज-सज्जा से सुसज्जित, सुख-सुविधाओं से संपृक्त, आकर्षक-खर्चीले होटलों में खाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रचलन आधुनिक सभ्यता का एक अंग बन गया है, वहाँ इस रस-परित्याग तप की कितनी आवश्यकता एवं सार्थकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। निश्चय ही जिस भोजन से, जो मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है, स्वस्थ विचार, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया, क्षमादि समस्त गुणों का समापन होता हो, मोहादिक कुत्सित वृत्तियों, भोग-वासनादिक तामसी वृत्तियों, मान-अभिमानादि काषायिक-विकारों का प्रादुर्भाव होता हो, तथा आत्मतत्त्व का अपकर्षण होता हो, सर्वथा अखाद्य-अभक्ष्य कहलाएगा। आज इन्हीं भोजन का मात्र रस-लोलुपता हेतु निर्बाध रूप से सेवन किया जा रहा है जिसके दूषित परिणाम आज हमारे बीच में हैं। ऐसी स्थिति-परिस्थिति में यह तप निश्चय ही एक उत्तम टॉनिक का कार्य करेगा।

५. कायक्लेश

आत्म-साधना में शरीर को साधनानुकूल बनाने के लिये अर्थात् शरीर के प्रति ममत्व का विसर्जन, अनासक्त भाव का बोध उत्पन्न कराने के लिये अर्थात् शरीर और उसमें निवास करने वाली आत्मा एक नहीं, अलग-अलग है, यह अनुभूति-शक्ति जाग्रत कराने के लिये साधक द्वारा इस नश्वर शरीर को भिन्न-भिन्न प्रकार से अनगिनत असहनीय वेदना-पीड़ा-कष्ट पहुँचाना, कायक्लेश तप कहलाता है।[51] तपःसाधना में यह तप श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवें स्थान पर तथा दिगम्बर आम्नाय में यह छठवें स्थान पर रखा गया है। किन्तु इसके मौलिक स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों परम्पराओं में इसका मूलोद्देश्य एक ही है—काया को कष्ट देना/देह का दमन करना/इन्द्रियों का निग्रह करना अर्थात् आत्मकल्याणार्थ शरीर के प्रति ममत्वमोह का विसर्जन। यह शरीर के कर्दनरूप तप अनेक उपायों द्वारा सिद्ध होता है, फलस्वरूप जैनागम में इसके अनेक भेद-प्रभेद स्थिर किये गये हैं।[52]

शारीरिक कष्ट या तो प्रकृतिजन्य या उपसर्गों (देव-मनुष्य-तिर्यञ्च गति के जीवधारियों) द्वारा जिसे परीषह या उदीरणा के रूप में जिसे कायक्लेश कहते हैं, साधक को भोगने/सहने पड़ते हैं।[53] इस प्रकार साधक स्वकृत एवं परकृत दोनों प्रकार के शारीरिक-मानसिक कष्टों को सहन करता हुआ मात्र आत्म-चिंतन में लीन रहता है। ध्यान में केन्द्रित होने के लिये इस तप की साधना परमावश्यक है।[54] निश्चय ही इस तप के माध्यम से शीत, वात, आतप, उपवास, तृषा, क्षुधा आदि असहनीय से असहनीय विकट परिस्थितियों में/वातावरण में भी साधक समता भाव और सहजवृत्ति के साथ जीवन का वास्तविक आनन्द उठा सकता है। आज की आपाधापी, अस्थिर, हिंसात्मक स्थिति में भयाक्रान्त व्यक्ति को निर्भयता, निडरता, सहिष्णुता, सहनशीलता तथा शक्ति-सामर्थ्य अर्थात् आत्म-बल के जागरण के लिये कायक्लेश तप की नितान्त आवश्यकता रहती है। निश्चय ही इस तप की भूमिका आज के घिनौने वातावरण में बुझते हुए दिये को प्रज्वलित करने के समान है।

६. प्रतिसंलीनता

शरीर-इन्द्रिय-मन-वचन आदि का संयमन, एकान्त स्थल पर रहना अर्थात् भोग से योग की ओर, विभावों से स्वभाव की ओर अर्थात् सांसारिक/काषायिक वृत्तियों से असांसारिक वृत्तियों/तपःसाधना की ओर अर्थात् बहिर्मुख से अन्तर्मुख की ओर ले जाने की प्रक्रिया/साधना, प्रतिसंलीनता[55]/संलीनता[56]/विविक्तशयनाशन[57] अथवा विविक्तशय्यासन अथवा विविक्तशय्या तप कहलाती है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिसंलीनता तप बाह्य तप के छठवें जबकि दिगम्बर आम्नाय में विविक्तशय्यासन पाँचवें क्रम में निर्दिष्ट किया गया है।

कर्म-विपाक से विमुक्ति हेतु तपःसाधना बिना व्यवधान के निर्बाध रूप से चलती रहे, इस हेतु जैनागम में इस तप के इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रति-संलीनता तथा विविक्तशयनासन नामक चार भेद किये गये हैं।[58] इन्द्रिय प्रतिसंलीनता में इन्द्रियों को आत्म-केन्द्र की ओर मोड़ देना/सिकोड़ लेना अर्थात् संलीन कर देना होता है। जबकि कषाय प्रतिसंलीनता में काम-क्रोध-मान-माया-लोभादिक कषायों और उनकी प्रकृतियों को नियन्त्रण में रखना होता है। वास्तव में कषाय प्रत्येक जीव के जन्म-मरण अर्थात् सांसारिक भ्रमण के निमित्त का कारण बनते हैं।[59] योग प्रतिसंलीनता में साधक द्वारा मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को कम अर्थात् अन्तर्मुखी बनाया जाता है। विविक्तशयनाशन जैसा कि नाम से स्पष्ट है—एकान्त स्थल। इसमें साधक को ऐसे स्थानों पर अपनी दैनिक आवश्यक क्रियायें जैसा उठना, बैठना, शयन करना आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ किसी भी प्रकार का व्यामोह/ममत्व का अवसर न मिलता हो तथा ध्यान-साधना में किसी भी प्रकार का विघ्न-व्यवधान उत्पन्न न होता हो। कौन-कौन से स्थान साधुओं के ठहरने और न ठहरने के योग्य हैं, जैनागम में इसका विशद् विवेचन हुआ है।[60]

निश्चय ही इस तप द्वारा साधक असद्वृत्तियों से हटकर सद्वृत्तियों में अपने मन-वचन और शरीर को तन्मय करता हुआ सुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत कर सकता है। काम-वासना, अहं-भावना, क्रोध-ज्वाला, कपट, छल, प्रवंचना, तथा दूसरों के धन-सम्पत्ति हड़पने की प्रक्रिया की वह्नि जो आज प्रज्वलित है जिससे परिवार-समाज-राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अस्थिरता-असामाजिकता तथा अराजकता-आतंकवादिता का शोर-शराबा परिलक्षित है, शान्त-शमन हो सकती है।

तपःसाधना के छठवें क्रम तक पहुँचकर साधक को यह अनुभव होने लगता है कि जीवन जीने का लक्ष्य मात्र उदरपूर्ति के साधन-उपकरण जुटाने/एकत्रित करने अर्थात् इन्द्रियजन्य व्यापारों में खपाने की अपेक्षा आत्म-शोधन-विकास में ही होना श्रेयस्कर एवं सार्थक है। साधना के प्रथम चार चरण आहार त्याग से सम्बन्धित हैं क्योंकि बिना आहार-शुद्धि के शरीर-शुद्धि और तज्जन्य चित्त-शुद्धि का होना नितान्त असम्भव है। शेष दो चरणों में शरीर की शुचिता पर बल दिया गया है जिससे मन विकृति से हटकर निवृत्ति की ओर उन्मुख होता हुआ साधना-पथ पर नैरन्तर्य आगे बढ़ने को प्रवृत्त हो सके।

७. प्रायश्चित्त

प्रमाद अथवा अज्ञानता में हुए पापों/अपराधों/दोषों/भूलों का संशोधन/शुद्धीकरण/निराकरण/परिहार तथा भविष्य में इन कार्यों की पुनरावृत्ति न होने देने का स्वकृत सकल्प, प्रायश्चित्त तप कहलाता है।[61] यह आभ्यन्तर तप का प्रथम चरण है। इस तप से साधक में आर्जव गुण अर्थात् मनसा-वाचा-कर्मणा में एकरूपता, समरसता का संचार होता है। साधक शनैः-शनैः साधनापथ में निर्बाध रूप से आगे बढ़ता जाता है अर्थात् शुद्ध-निर्मल-पवित्र सरल-स्वभावी हो जाता है अर्थात् बाहर-भीतर की अन्तर-रेखा मिट-समिट जाती है। जो वह भीतर है, वही बाहर और जो बाहर है, वही भीतर। उसका आचरण दर्पण सदृश धवल-उज्ज्वल रहता है। जब व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप-गुणों का चिन्तवन करता है, तो प्रायश्चित्त-प्रवृत्ति उसमें उद्भूत होती है, वह सहज भाव से किये गये दोषों का परिहार करने के लिये सदा तत्पर रहता है। निश्चय ही यह तप पापमुक्ति का मार्ग-प्रदर्शक है। दोष-निवारण के अनेक साधन-उपाय होने के कारण जैनागम में इस तप के अनेक भेद-प्रभेद स्थिर किये हैं जिनकी संख्या कहीं पर नौ है[62] तो कहीं पर दस[63] और कहीं-कहीं पर नौ व दस दोनों ही दृष्टव्य है।[64]

इस प्रायश्चित्त तप की उपयोगिता को देखते हुए बड़े-बड़े साधु-सन्त, ऋषि-आचार्यों ने इसे अपने दैनिक जीवन का एक अंग बनाया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जैसे प्रबुद्ध सन्तों की दैनिक डायरी का निरन्तर उपयोग इसका स्पष्ट प्रमाण है। आज के कृत्रिमता व्यस्तता से अनुप्राणित तथा छोटे-बड़े विभिन्न अपराधों से संपृक्त जीवन में यदि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक दिन किसी भी क्षण अथवा सोने से पूर्व अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लेखे-जोखे को समभाव अथवा निर्लिप्त भाव से निहारे अर्थात् प्रायश्चित्त तप को अपनाये तो निश्चित ही वह व्यक्ति साधारण से साधारण और जघन्य से जघन्य अपराध-भूलों को भविष्य में न करने का संकल्प लेगा तथा तदनुरूप अपनी दैनिक चर्या का संचालन करेगा। यह प्रायश्चित्त भाव अपराधियों को एक बार पुनः सादगीपूर्ण जीवन जीने का मार्ग प्रस्तुत करता है। इसलिये समय-समय पर सन्त-मनीषियों ने जेलों में, अपराधी-स्थलियों में जा-जाकर अपराधियों का हृदय परिवर्तन कराया, उन्हें सम्यक् साधना का उद्बोधन दिया और ज्ञान दिया जाग्रत जीवन-चर्या जीने का। निःसन्देह यदि यह प्रायश्चित्त भाव जन-जन तक पहुँचे, इसकी उपयोगिता-उपादेयता को बताया जाय तो जो आज अपराध-अपराधी दिन प्रतिदिन नये-नये रूपों में जन्म ले रहे हैं, विकसित अथवा पनप रहे हैं, वे समूल नष्ट-विनष्ट हो जायेंगे और एक अपराधी जीवन सादगी-मर्यादा-कर्तव्य-परायणतादि से युक्त-संयुक्त होगा। निश्चय ही यह प्रायश्चित्त तप की व्यावहारिक उपयोगिता कहलाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. विनय

आत्म-विकास हेतु, ज्ञान प्राप्त्यर्थ तथा कर्म-विनयन अर्थात् कर्म-निर्जरा के लिये संयम-साधना, अनुशासन-आराधना, अहंकार-विसर्जन, मृदुता-नम्रतापूर्ण व्यवहार, गुरुजन का सम्मान-आदर-भक्ति तथा गुणों की उपासना आदि मानवीय तत्त्वों का दैनिक जीवन में प्रयोग करना वस्तुतः विनय कहलाता है।[65] यह परम सत्य है कि विनय मोक्ष का सोपान है, इससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी प्रस्फुटित होती है। विनय के अनेक भेद-प्रभेद जैनागम में वर्णित हैं जिनकी संख्या कहीं पर तीन,[66] कहीं चार[67] तो कहीं पर पाँच[68] अथवा सात[69] तक गिनायी गयी है।

आध्यात्मिक साधना में विनय का होना जहाँ आवश्यक है वहीं सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में इसकी उपयोगिता भी असंदिग्ध है। जिस समाज में यदि गुणों का सम्मान-पूजा न हो, वह समाज उन्नति की अपेक्षा अवनति के कगार पर होता है। निश्चय ही इस तप के माध्यम से हमारे व्यवहार में गुणों का आदर-सम्मान परिलक्षित है। आज शिक्षादि के क्षेत्र में जहाँ अनुशासन-हीनता, उद्दण्डता, उग्रता, अहंकारितादि का वातावरण आच्छादित है, वहाँ जीवन में विनय का होना परम आवश्यक है क्योंकि शिक्षार्जन का आधार-स्तम्भ विनय होता है। जहाँ अभिमान होता है, वहाँ विनय नहीं होता, नम्रता वहाँ टिक नहीं सकती। यह अभिमान आत्मा को नरक की ओर ले जाता है[70] जबकि विनय उसे धर्म के पास पहुँचाता है क्योंकि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम फल है।[71] विनयपूर्वक पढ़ी गई विद्या लोक-परलोक दोनों में सर्वत्र फलवती होती है। अस्तु विनय से हीन समस्त शिक्षा निरर्थक है। यह सत्य है कि विनयहीन व्यक्ति में सदा सद्गुणों का अभाव रहता है। कोई भी लौकिक कार्य बिना गुरु की विनय के पूरे नहीं होते, अस्तु गुरुओं का अतिशय विनय करना अपेक्षित रहता है। शिक्षार्जन करने का उद्देश्य भी यही है कि उससे विनय, बल, और विवेक की भावना जागृत हो। इतिहास साक्षी है कि विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी हुए। अनेक संतों ने भी विनय के बल पर ही मोक्षमार्ग प्रशस्त किया। निश्चय ही विनय से तप, संयम और ज्ञान की सिद्धि होती है। यदि हमें इक्कीसवीं शती में जीना है तो विनय को जीवन का एक आवश्यक अंग बनाना होगा, तभी जीवन सार्थक एवं स्व-पर के लिये कल्याणकारी होगा।

९. वैयावृत्त्य

आत्म-साधना में लीन, गुणों के आगार, तपस्वी-संयमी, आचार्य-मनीषी, आदि की बहुविध क्षेत्रों में, निष्कामभाव से, निःकांक्षित होकर अर्थात् मात्र श्रद्धा भाव से सेवा-शुश्रूषा तथा उपासनादि करना वैयावृत्त्य कहलाता है।[72] वैयावृत्त्य से साधक को जागतिक क्षेत्र में ऋद्धि, बल, यश, वैभव तथा ऐश्वर्यादि की उपलब्धि तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मों की निर्जरा कर तीर्थङ्कर पद अर्थात् मोक्ष पदवी प्राप्ति होती है।[73] सेवा-शुश्रूषादि के विविध आयामों के आधार पर जैनागम में इस तप के अनेक प्रकार बताये गये हैं।[74] जिनका परिपालन कर साधक अशुभ से शुभ और शुभ से प्रशस्त शुभ की ओर सदा उन्मुख रहता है।

आध्यात्मिक के साथ-साथ सामाजिकता के क्षेत्र में यह तप मनुष्य में परस्परोपग्रहो जीवानाम् अर्थात् एक दूसरे का सहयोग व उपकार करने की वृत्ति,[75] दया, करुणा, स्नेह-वत्सलता, बंधुत्व-अपनत्व, विनय की भावना तथा कर्तव्यपरायणता का बोध उत्पन्न कराता है। इस तप की महिमा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इससे विश्व के समस्त जीवों में—अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, मजदूर-मालिकों आदि के मध्य पडी खाइयाँ/भेद-भाव का समापन तथा धर्म-जातीय, भाषायी विवादों का शमन अर्थात् अपेक्षित समता भाव का उदय होगा।

आज के विषाक्त युक्त वातावरण में, जहाँ सेवा करने का विशाल क्षेत्र है, इस तप के माध्यम से, अपनी सुख-सुविधाओं, एषणाओं-आकांक्षाओं को त्यागते हुए अवश, अशक्त-असहाय, दीन-पीड़ितों, रोगियों को उपहास, हीन, अनादर, तिरस्कार-घृणा तथा हेय की दृष्टि से न देखते हुए उनकी तन-मन-धन से एकरूप होकर तन्मयता के साथ सेवा-शुश्रूषा करना परम उपयोगी एवं स्व-पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याणकारी होगा। निश्चय ही इससे सुखी-समृद्ध तथा उल्लास का वातावरण उत्पन्न होगा जिसका यत्र-तत्र-सर्वत्र अभाव है।

१०. स्वाध्याय

सत् शास्त्रों का मर्यादापूर्वक, विधि सहित, अध्ययन, अनुचिंतन तथा मनन अर्थात् आत्मा का हित/कल्याण करने वाला अध्ययन अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करना, स्वाध्याय कहलाता है।[76] आत्म-कल्याण के लिये ज्ञान की आराधना अपेक्षित है। इसलिये तत्त्व-ज्ञान का पठन-पाठन तथा उसका स्मरण आदि बातें स्वाध्याय की कोटि में आती हैं।[77] जैनागम में इसके अनेक प्रकार दर्शाये गये हैं।[78] स्वाध्याय के विषय में जैनागमों में यह स्पष्ट किया है कि स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधि से तथा योग्य द्रव्य, क्षेत्र व काल में ही किया जाना श्रेयस्कर रहता है, अन्यथा वह अलाभ, कलह, व्याधि तथा वियोग उत्पन्न करता है।[79]

यह परम सत्य है कि स्वाध्याय से बुद्धि में तीक्ष्णता, निर्मलता आती है, इन्द्रियों और मन को वश में करने की क्षमता विद्यमान रहती है। वास्तव में स्वाध्याय में सम्यक्त्व की प्रधानता रहती है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो मनुष्य आलसी और प्रमत्त होते हैं, न उनकी प्रज्ञा बढ़ती है और न ही उनका श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) ही बढ़ पाता है। जैनाचार्यों ने शास्त्राध्ययन के लिये अविनीत, चटोरा, झगड़ालू और धूर्त लोगों को अयोग्य बताया है।[80] इसका मूल कारण है कि वह आगमपाठी जो चारित्र गुण से हीन है, आगम (शास्त्र) को अनेक बार पढ़ लेने पर भी संसार-समुद्र में डूब जाता है।[81] चरित्र स्वाध्याय का एक महत्वपूर्ण अंग है। सच्चरित्र साधक के लिये शास्त्र का थोड़ा सा अध्ययन भी कल्याणकारी होता है।[82]

स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादित करने वाले) कर्म क्षय हो जाते हैं।[83] समस्त दुःखों का समापन सहज में ही हो जाता है।[84] निश्चय ही स्वाध्यायी-साधक अपनी पंच इन्द्रियों का संवर करता है, मन आदि गुप्तियों को भी पालने वाला होता है और एकाग्रचित्त हुआ विनय से संयुक्त होता है।[85] प्रवचन के अभ्यास से अर्थात् परमागम के पढ़ने पर सुमेरु-पर्वत के समान निष्कम्प-निश्चल, आठ मल रहित, तीन मूढ़ता (लोकमूढ़ता-देवमूढ़ता-गुरुमूढ़ता) रहित सम्यग्दर्शन होता है, उसे देव, मनुष्य, तथा विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और अष्ट कर्मों के उन्मूलित होने पर प्रवचन के अभ्यास से ही विशद सुख भी प्राप्त होता है।[86] स्वाध्याय तप के द्वारा प्रज्ञा में अतिशय, अध्यवसाय, प्रशस्ति, परम संवेग, तपवृद्धि व अतिचार-शुद्धि आदि भी प्राप्ति होती है।[87]

स्वाध्यायतप में फलेच्छा के निषेध का भी जैनागमों में स्पष्ट उल्लेख है। समस्त आगम का अभ्यास और चिर-काल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि प्राणी सम्पत्ति आदि का लाभ तथा प्रतिष्ठा आदि चाहता है, तो निश्चय ही वह विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट कर देता है जिसके द्वारा सुन्दर व सुस्वादु पके हुये रसीले फल प्राप्त हुआ करते हैं।[88] जो प्राणी केवल कर्म-मुक्ति की इच्छा से स्वाध्याय तप करते हैं, जिनमें इस लोक के फल की इच्छा बिल्कुल नहीं होती, उन्हें ज्ञान-लाभ होता है। साथ ही उन्हें आत्म-शुद्धि का स्थायी सुख भी सहज में ही प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही लोकेषणा से रहित स्वाध्याय आत्मोपयोगी होता है।

आज समाज, देश-राष्ट्र में ज्ञान-कुन्दता, चरित्र-ह्रास क्षण-क्षण में उत्तेजना-वासनादि, कलुषित वृत्तियाँ, द्वेष, घृणा, ईर्ष्यादि चारों ओर आच्छादित हैं उसका मूल कारण है सही दिशादर्शन का अभाव। किसी भी समाज का, राष्ट्र का मेरुदण्ड उसका युवावर्ग हुआ करता है। आज युवा समुदाय की मानसिक भूख की खुराक साहित्यिक-स्वाध्याय की अपेक्षा सस्ता-बाजारू, अश्लील, तामसी-राजसी वृत्तियों को उद्रेक करने वाला साहित्य है। जबकि सत् साहित्य के सतत् स्वाध्याय से व्यक्ति के ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र बढ़ता/फैलता है। साथ ही सद्-विचार, सद्संस्कार, अनन्त आनन्द, निर्विकारिता, एकाग्रता, चित्त की स्थिरता-निर्मलता संकल्प-स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है। निश्चय ही स्वाध्याय एक एक उत्कृष्ट तप कहा जाएगा।[89]

११. ध्यान

मन के चिन्तन का एक ही वस्तु/आलम्बन पर

www.jainelibrary.org

अवस्थान/ठहराव/केन्द्रित करना जैनागमों में ध्यान कहा गया है।[90] ध्यान मन की बहुमुखी चिन्तन धारा को एक ही ओर प्रवाहित करता है, जिससे साधक अनेकचित्तता से दूर हटकर एकचित्त में स्थित होता है। वास्तव में एक-चित्तता ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चित्त का निरोध करना ध्यान है। ध्यान-साधना में ध्याता/साधक सदा ध्येय को देखा करता है। ध्याता ध्येय की सम्प्राप्ति हेतु मन, वचन व काय (शरीर) का एकीकरण/योग करता है, जिसे जैनागमों में कायिक, वाचिक तथा मानसिक ध्यान कहा गया है। कायिक-ध्यान में शरीर का शिथिलीकरण/स्थिरीकरण किया जाता है। वाचिक ध्यान में वाणी का ध्येय के साथ में योग अर्थात् ध्येय और वचन में समापत्ति, दोनों का एकरस कर देना होता है तथा मानसिक ध्यान में मन का ध्येय के साथ योग किया जाता है।[91]

तपःसाधना में ध्यान का स्थान सर्वोपरि है। इसका मूल कारण है कि ध्यान के द्वारा साधक में मानसिक शक्ति और सामर्थ्य का पुञ्ज प्रकट होता है तथा कर्मों की जबर्दस्त शृंखलाओं का टूटना भी होता है अर्थात् कर्मों का क्षय होना होता है। कर्मक्षय होने पर साधक संसार के आवागमन की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है, मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।[92]

जैनागमों में आभ्यन्तर तपःसाधनान्तर्गत ध्यान को कहीं पर पाँचवें[93] और कहीं-कहीं पर छठवें क्रम में रखा गया है।[94] चित्त का प्रवाह चहुँमुखी होने के कारण ध्यान को आर्त्त-रौद्र-धर्म-शुक्ल नामक चार भागों में वर्गीकृत किया गया है।[95] जिसके अनेक प्रभेद भी स्थिर किये हैं।[96] इनमें आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के परिवर्धक हैं, अस्तु अप्रशस्त हैं, अशुभ हैं। किन्तु धर्म और शुक्ल निर्वाण के साधक हैं, अस्तु प्रशस्त एवं शुभ हैं। धर्मध्यान शुक्लध्यान की प्रारम्भिक अवस्था है। जीव के आध्यात्मिक विकास के क्रम को गुणस्थान/जीवस्थान कहा जाता है।[97] इसके चौदह क्रम/गुण जैनागमों में निर्दिष्ट हैं।[98] धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक और शुक्लध्यान आठवें से चौदहवें-गुणस्थान तक रहता है। चौदहवें गुणस्थान में साधक पूर्ण रूप से निर्वाण/सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है।[99]

आज हमारा समस्त जीवन हर क्षण आर्त्तता रौद्रता में ही व्यतीत होता है। बहुत कम क्षण ऐसे होते हैं जो धर्म में और विरल क्षण ही शुक्लध्यान की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह निश्चित है कि आज के व्यस्त एवं त्रस्त जीवन में मन, विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों, वृत्तियों, कामनाओं और विकार-वासनाओं आदि अन्य अनेक रूपों में सक्रिय रूप से संश्लिष्ट रहता है जिसके दूषित-घातक परिणाम आज प्रत्यक्षतः परिलक्षित हैं।

शिक्षा, व्यवसाय, सरकारी-गैर-सरकारी कार्यालयों आदि में तथा वाहन चालन आदि में अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज चित्त की एकाग्रता का सर्वथा अभाव होने से दिन-प्रतिदिन क्षण-प्रतिक्षण घटनाएँ-दुर्घटनाएँ तथा अनेक असावधानियाँ घटित हो रही हैं। वास्तव में चित्त-एकाग्र का प्रबलतम एवं उत्कृष्ट साधन है—ध्यान। ध्यान के माध्यम से मन की चंचलता, अस्थिरता, अशान्ति तथा व्यग्रतादि मिटती है। आनन्द-सुख के स्रोत जो भीतर सुप्त/बन्द हैं, जाग्रत होते हैं/खुलते हैं। निश्चय ही ध्यान की साधना मन को निर्विषय बनाने की अद्भुत प्रक्रिया है। इससे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। आत्म-बोध-होने पर दुःख का सागर और अज्ञानता का बादल सान्त हो जाता है/कट-छंट जाता है।

१२. व्युत्सर्ग

तपःसाधना का यह अन्तिम चरण है। इसमें सर्व प्रकार का त्याग अर्थात् बहिरंग में शरीर-आहार-उपकरणादि तथा अन्तरंग में राग-द्वेषादिक काषायिक वृत्तियों का छूटना होता है। साधक साधना की इस चरम स्थिति पर पहुँच कर पूर्णरूप से निःसग, अनासक्त तथा आत्मध्यान में लवलीन हो जाता है।[100] उसे यह अनुभव होने लगता है कि यह शरीर भोग, यश-प्रतिष्ठा आदि समस्त बाह्य तत्त्वों में राग-द्वेष रखने की अपेक्षा इन सबमें उपेक्षा, उदासीनता रखने के लिये तथा आत्म तत्त्व के चिन्तवन में ही लगाने के लिये बना है। वास्तव में यह शरीर और उसका समस्त व्यापार निरर्थक है, निःसार है। जबकि इस नश्वर-अचेतन शरीर में विराजमान चेतनशक्ति अर्थात् आत्म तत्त्व ही सार है, अस्तु उसका चिन्तवन स्व एवं पर दोनों के लिये उपयोगी एव कल्याणकारी है।

निश्चय ही यह भावना साधक को बहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर उन्मुख करने में परम सहायक-सिद्ध होती है।

जैनागमों में कहीं-कहीं पर व्युत्सर्ग के स्थान पर कायोत्सर्ग का उल्लेख मिलता है।[101] कायोत्सर्ग में भी शरीर के साथ-साथ सर्वप्रकार के ममत्व का त्यागना होता है। ममता हटते ही साधक में समता के भाव उदय होने लगते हैं। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी माध्यस्थ भावना जाग्रत रहती है। देव-मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी भयंकर से भयंकर उपसर्गों की चिन्ता न करते हुए सम्यक्-रूप से अर्थात् मन-वचन-काय अर्थात् समभाव से साधक साधना में अपने चित्त को एकाग्र किये रहता है।[102] वास्तव में कायोत्सर्ग में जो साधक सिद्ध हो जाता है, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप में भी सिद्धहस्त हो जाता है।[103]

जैनागमों में व्युत्सर्ग[104]/कायोत्सर्ग[105] अनेकानेक भेदों-प्रभेदों में वर्णित हैं। सर्वार्थसिद्धि में व्युत्सर्ग तीन प्रकार से स्पष्ट किया गया है। एक में ममकार एवं अहंकार आदि का त्याग, दूसरे में कायोत्सर्ग आदि करना तथा तीसरे में व्युत्सर्जन करना होता है।[106]

इस तप के प्रभाव से प्राणी-प्राणी में समभाव, तटस्थता/निष्पक्षता, जो है उसके स्वरूप की प्रतीति, चिन्तनात्मक दृष्टि, विषम परिस्थितियों में सहिष्णुता, निर्भयता तथा बलिदान-कर्तव्य की भावना-आस्था सदा विद्यमान रहती है जिसकी आज के विषादयुक्त वातावरण में परमावश्यकता है। निश्चय ही यह तप भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ शरीर के प्रति जो ममत्व है, उसे समाप्त कर प्रसन्नता-आनन्द का वातावरण प्रदान कराएगा।

उपर्युक्त पंक्तियों में कथ्य विचार से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैन तपःसाधना शरीर को कष्ट देने की अपेक्षा उसे विकार-विवर्जित बनाती है। इसमें अन्तःकरण को शुद्ध किया जाता है, सुप्त चेतना को जगाया जाता है अर्थात् अंतरंग की शक्ति का उद्घाटन होना होता है। साधक कभी अनशन करके तो कभी भूख से कम खाकर, कभी सीमित पदार्थ ग्रहण कर तो कभी किसी रस को तजकर शरीर को नियन्त्रित करता हुआ चेतन-अवचेतन मन में प्रविष्ट वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है। इन सबके लिये ज्ञान-ध्यान, पठन-पाठन-चिन्तवन आदि में वह लीन रहता है। संसारी-बाह्य प्रभावों से अपने को अलग करता हुआ साधक अन्ततोगत्वा आत्मस्वभाव अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति में जीवन को तपःसाधना/अध्यात्म साधना में खपा देता है। वास्तव में तप की साधना जीवन का एक अनिवार्य अंग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तप की आवश्यकता पग-पग पर बनी रहती है। संसार की समस्त समस्याएँ-बाधाएँ तपमय जीवन से ही समाप्त हुआ करती हैं। अस्थिरता, अशान्ति, बेचैनी, एक अजीब प्रकार की उकताहट-निराशादि के वातावरण में तप-साधना जीवन को एक नया आयाम देती है, स्फूर्ति और शक्ति का संचार करती है। जिस प्रकार सूर्य-रश्मियाँ संसार को प्रतिदिन एक नया जीवन देती हैं, उसी प्रकार यह तपःसाधना संसारी प्राणी को एक नई चेतना देगी, जागृति देगी। निश्चय ही इससे अग-जग में एक नया दिन, एक नई रात और एक नया रूप प्रस्फुटित होगा।

□

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची—

१. (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार २७०, गाथा १४९२
   (ख) राजवार्तिक, ९/६/२७/५९९/२२
२. (क) भगवती आराधना, मूल/१४७२-१४७३
   (ख) गोपथ ब्राह्मण, २/५/१४
   (ग) कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/९
   (घ) तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/७/७०
   (ङ) मनुस्मृति, ११/२२९
   (च) मुण्डकोपनिषद्, १/१/८
३. (क) शतपथ ब्राह्मण, ३/४/४/२७
   (ख) सामवेद पूर्वार्चिक १/११/१०
४. अथर्ववेद, ११/५/४
५. मनुस्मृति, ११/२३८
६. (क) दशवैकालिक, १/१
   (ख) वाल्मीकि रामायण, ७/८४/९
७. आत्मानुशासन, श्लोक ११४
८. मज्झिमनिकाय कन्दरक सूत्र।
   —भगवान बुद्ध, पृष्ठ २२०,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. सामवेदपूर्वार्चिक, १/११/१०

१०. मुण्डक उपनिषद्, १/१/८

११. देवाद्विज—गुरुप्राज्ञ·····तपोमानसमुच्यते ।
—श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय १७

१२. (क) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
—लेखक-मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृ० १४५.

(ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप
—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

(ग) धर्म दर्शन : मनन और मूल्यांकन
—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

१३. (क) आचारांग सूत्र, १/४/३

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३८/३५

(ग) उत्तराध्ययन सूत्र, २०/६

(घ) दशवैकालिकसूत्र, १०/७

(ङ) सोहओ तवो । —आवश्यक निर्युक्ति, १०३

(च) विसयकसाय विणिग्गह भावं काउण झाणसिज्झीए
—वारस अणुवेक्खा, गाथा संख्या ७७,

१४ (क) सर्वार्थसिद्धि, ९/६/४१२/११,

(ख) कर्मदहनात्तपः ।
राजवार्तिक, ९/१९/१८/६१९/३१

(ग) तत्त्वसार, ६/१८/३४४

(घ) कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम् ।
—पद्मनन्दिपंचविंशतिका, अधिकार संख्या १, श्लोक संख्या ९८,

(ङ) जम्हा निकाइयाणऽवि कम्माण तवेण होइ निज्जरणं ।
—नव तत्त्वप्रकरण, ११, भाष्य ९०, देवगुप्तिसूरि-प्रणीत ।

(च) तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः ।
—आवश्यक मलयगिरि, खण्ड २, अध्याय १

(छ) तवोणाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठि नासेतित्ति वुत्तं भवइ ।
—दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि, पृष्ठ १५

१५. (क) णेरइएसु ओरालिय सरीरस्स उदयाभावादो पंचमहव्वयाभावादो ।
—धवला, १३/५,४,३१/९१/५

(ख) संयममारांहतेण तवो आराहिओहवेणियमा ।
—भगवती आराधना, मूल, ६/३२

(ग) संजमहीणो य तवो जइवरइ णिरत्थयं सव्वं ।
—शीलपाहुड, मूलगाथा ५

(घ) सम्मदिट्ठिस्सवि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि । —मूलाचार, गाथा ९४०

१६. (क) बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा-होदि·····। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०२

(ख) तपसा निर्जराश्च । —तत्वार्थ सूत्र, ९/३

(ग) कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्टदे मणुस्सोत्ति
—राजवार्तिक, ८/२३/७/५८४

(घ) तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ।
—न्यायविनिश्चय, मूल, ३/५४/३३७

(ङ) जेणहवे संवरणं तेण दुणिज्जरणंमिदि जाणे ।
—बारस अणुवेक्खा, ६६

(च) तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे·····।
—भगवती आराधना, मूल १८५४/१६६४

(छ) जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगोहि अप्पाणं····।
—पंचास्तिकाय, मूल, १४५

(ज) दशवैकालिक, ९३

१७. (क) इह-पर लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो । विवहंकायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स ।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा, ४००

(ख) राजवार्तिक, ९/१९/१६/६१९/२४

(ग) णो पूयणं तवसा आवहेज्जा । तेसिं पि न तवो सुद्धो । —सूत्रकृताङ्ग ७-८/२७-२४

१८. तपोमनोऽक्षकायाणांतपनात् संनिरोधनात् । निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छा निरोधनम् ।
—अनगार धर्मामृत, ७/२/६५९

१९. जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
—मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृष्ठ १३९-४०

२०. (क) अज्ञानकृतयोर्व्रत तपः कर्मणोः बन्धहेतुत्वाद् बालव्यपदेशेनप्रतिषिद्धत्वे सति ।
—समयसार आत्मख्याति, गाथा १५२,

(ख) यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बालामिथ्या दृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्निप्रवेशकारीष साधनादि प्रतीतम् ।
—राजवार्तिक, ६/१२/७/५१२/२८

(ग) बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतमनुपाय कायक्लेश प्रचुरं निकृति बहुलव्रत धारणम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ६/२०/३३६/१

(घ) जस्स वि दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स सो बालतवस्सी वि व गयण्हाण परिस्समं कुणइं ।
—दशवैकालिकनिर्युक्ति, ३००

(ङ) प्रवचनसार, ३/३८

२१. जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
—मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृष्ठ १३९

२२. निशीथभाष्य, गाथा ३३३२

२३. (क) दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो एक्केक्को वि छद्धा जधाकम्मं तं परूवेमो ।
—मूलाचार, गाथा ३४५

(ख) सर्वार्थसिद्धि, ९/१९/४३८/२

(ग) अनशनावमौदर्य·····ध्यानान्युत्तरम् ।
—तत्वार्थसूत्र, ९/१९-२०

(घ) द्रव्य संग्रह, ५७/२२८

(ङ) चारित्रसार, १३३,

(च) सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा····· झाणं च विउस्सग्गो एस अब्भिन्तरो तवो ।
— उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/७-८-९

२४. (क) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्पर प्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् । कथमस्याभ्यन्तरत्वम् । मनोनियमनार्थत्वात् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९-२०/४३९/३-६

(ख) राजवार्तिक, ९/१९/१७-१८/६१९/२६

(ग) अनगार धर्मामृत, ७/६, ३३

(घ) बाह्यतपः बाह्यशरीरस्यं परिशोषणेन कर्मक्षपण हेतुत्वादिति । आभ्यन्तरं चित्तनिरोधप्राधान्येन कर्मक्षपण हेतुत्वादिति ॥
—समवायागं, ६, अभयदेव वृत्ति

(ङ) अभिंतरए·····प्रतीयमानत्वाच्चेति ।
—औपपातिक सूत्र, ३०, अभयदेववृत्ति

(च) सन्मार्गज्ञाः अभ्यन्तराः । तदवगम्यत्वात् घटादिव तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति ।
—भगवती आराधना, वि० १०७

२५. अनशनं नाम अशनत्यागः । स च त्रिप्रकार ।····· ऐतेषा मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादान कारणानां त्यागोऽनशनं चारित्रमेव ।
—भगवती आराधना, वि० ६/३२

२६. (क) जो मणि-इंदिय विज्जई·····तवं अणसणं होदि । —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४०-४४१

(ख) चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवाऽमूतेः ।
सकृदभुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमित्यर्थाः ॥
—अनगार धर्मामृत ७/११

(ग) तत्थ चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुआलस····· णाम तवो । —धवला, १३/५,४,२६

(घ) आवश्यकनिर्युक्ति ।

२७. (क) इतिरियं यावज्जीव दुविह पुण अणसणं मुणेदव्वं
—मूलाचार, ३४७

(ख) भगवती सूत्र, २५/७

२८. (क) इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहं भवे····
—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/९

(ख) अनवधृतकालमादेहोपरमात् ।
—राजवार्तिक, २/१९/२

(ग) अद्धाणसणं सव्वाणसणंदुविहं तु अणसणं भणियं । —भगवती आराधना, २०९

(घ) अनगार धर्मामृत, ७/११

(ङ) अद्धानशन सर्वानशन द्विविकल्पमनशनमिहोक्तम् ।
विहृतिभृतोद्धानशनं सर्वानशनं तनुत्यागे ॥
—ज्ञानदीपिका पंजिका, ७/११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/१०-११
(ख) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
लेखक मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृ० १८१-१९९
(ग) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ६०१

३०. (क) राजवार्त्तिक, ९/१९/१,१६
(ख) यस्यसकलकालमेव सकल पुद्गलाहरण शून्य-मात्मानमवबुद्ध्यमानस्य·····बलीयस्त्वात् ।
—प्रवचनसार—तत्त्व प्रकाशिका, २२७
(ग) उत्तराध्ययन सूत्र, २९/३५
(घ) जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण
—लेखक-देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ २११
(ङ) दृष्टफलानपेक्षं संयमसिद्धि—रागच्छेदकर्म विनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९
(च) चारित्रसार, १३४/४
(छ) स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।
—अनगारधर्मामृत, ७/१२

३१. (क) किमट्ठमेसो कीरदे ? पाणिंदियसंजमट्ठं, भुत्तीए उह्यासंजम अविणाभाव दसणादो ।
—धवला, १३/५,४,२६
(ख) इति यः षोडशायामानगमयति परिमुक्त सकल सावद्य·····महाव्रतित्वमुपचारात् ।
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, १५७, १५८, १६०

३२. योगत्रयेण तृप्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृतिः अवमौदर्यम् ।
—भगवती आराधना, वि०, ६/३२/१७

३३. (क) समवायांग, ६
(ख) भगवती सूत्र, २५/७
(ग) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/८

३४. (क) तत्वार्थ सूत्र, ९/१९
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/१४-२३

३५. (क) औपपातिक सूत्र, ३०
(ख) भगवती सूत्र, २५/७

३६. (क) स्थानाङ्ग सूत्र, ३/३८१
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/१४-२४
(ग) ओमोयरिया दुविहा—दव्वमोयरिया य भावमोय-रिया । —भगवती सूत्र

३७. (क) संजम प्रजागर दोष प्रशम-संतोष स्वाध्यायादि सुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९/४३८/७
(ख) धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि ।
ण य इंदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्तो ।।
—मूलाचार, ३५१

३८. कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्मयं द्रव्य-गुरु लाघवं स्वबलम् । ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ।।
—प्रशमरति प्रकरण, १३७

३९. तत्त्वार्थसूत्र, ९/१९

४०. समवायांग, सम० ६

४१. (क) स्थानाङ्ग सूत्र, ३/३/१८२
(ख) भगवती सूत्र, २५/७/११५
(ग) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/३५
(घ) औपपातिक ३०

४२. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, २४/११-१२
(ख) पिण्डनिर्युक्ति, ९२-९३
(ग) धर्म, दर्शन : मनन और मूल्यांकन
—लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री
अध्याय क्रियात्मक धर्म/दर्शन, पृष्ठ ३५
(घ) भायेण-भायण-धर-वाऽ-दादारा वुत्तीणाम ।····
····सो वृत्तिपरिसंखाणं णाम तपो त्ति भणिद होदि । —धवला, १३/५,४,२६
(ङ) एकादिगह पमाणं किच्चा संकप्प कप्पिय विरसं । भोज्जं पसुव्व भुंजदि वित्ति पमाणं तवो तस्स।।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४५
(च) एकवस्तु दशागार-पान मुद्गादि गोचरः । संकल्प क्रियते यत्र वृत्ति परिसंख्याहि तत्तपः ।।
—तत्वार्थसार, ७/१२
(छ) गोयर पमाण दायग भायण णाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्सवृत्तिपरिसंखा ।।
—मूलाचार, गाथा, ३५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ज) एकागारसप्त वैश्मैरर्थार्द्धग्रामादि विषयः संकल्पोवृत्ति परिसंख्यानम् ।
—राजवार्तिक, ९/१९/४/६१८/२४

४३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२५
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ६

४४. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२५
(ख) दशवैकालिक सूत्र, ५/१/३ हरिभद्रीय टीका, पत्र. १६३
(ग) आचारांग सूत्र, २/१

४५. दशवैकालिक सूत्र १/५

४६. (क) वृत्तिपरिसख्यानमाशानिकृत्यर्थभवन्तव्यम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९

(ख) अणुपुव्वेणाहारं सेवंट्ठंतो य सल्लिइह देहं···· वृत्ति परिसंख्यानमित्ति ।
—भगवती आराधना, व विजयो० टीका, १४७

४७. इन्द्रिय-दर्पनिग्रह-निद्राविजय-स्वाध्याय सुख सिद्ध्यार्थ·····रस परित्यागः । —सर्वार्थसिद्धि, ९/१९

४८. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/१०
(ख) खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं ।
परिवज्जण रसाणं तु भणियं रस विवज्जण ।।
—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२६

(ग) खीरदधि सप्पितेल्ल गुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं णिज्जूहण मोगाहिम पण कुसण लोणमादीणं ।
—भगवती आराधना, २१५

(घ) रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिणाम् ।
एक द्वित्रीणिचत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा ।।
—तत्वार्थसार अधिकार ६, श्लोक ११

(ङ) रसगोचरगार्द्धमत्यजनं त्रिधा रस परित्यागः ।
—भगवती आराधना, वि०, ६/३२/१८

(च) घृतादिवृष्यरस परित्यागश्चतुर्थं तपः ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९/४३८/९

(छ) राजवार्तिक ९/१९/५/६१८/२६

(ज) खीरदहिसप्पि तेल गुड़ लवणाणं च जं परिच्चयणं तित्तकडुकंसायंविलमधुररसाणं च जं चयणं ।
—मूलाचार, गाथा, ३५२

४९. (क) तत्रमनसोविकृतिहेतुत्वाद् विगति हेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो । —प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति, (प्रत्याख्यान द्वारं)

(ख) मनसोविकृति हेतुत्वाद् विकृतयः ।
—योगशास्त्र, ३ प्रकाश वृत्ति

(ग) मूलाराधना, ३/२१३-२१५

(घ) स्थानाङ्ग सूत्र, ९/६७४, ४/२७४

५०. (क) से किं तं रस परिच्चाए ? रस परिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा—णिव्विगए, पणीयरसविवज्जए—जहा उववाइए जाव लूहाहारे । से तं रस परिच्चाए ।
—भगवती सूत्र, २५/७/११६

(ख) से किं तं रस परिच्चाए ? अणेगविहे पण्णत्ते । ·····लूहाहारे । —औपपातिक, सम० ३०

(ग) तत्त्वार्थसार, ६/११

५१. (क) अन्नं इमं शरीरं अन्नो जीवुत्ति एवकयबुद्धी । दुक्ख परिकिलेसकरं छिद ममत्तं—सरीराओ ।
—आवश्यकनिर्युक्ति, १५४७

(ख) नत्थि जीवस्स नासुत्ति ।
—उत्तराध्ययन सूत्र, २/२७

(ग) वोसिरो सव्वसो कायं न म देहे परीसहा ।
—आचारांग सूत्र, १/८/८/२१

(घ) कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः ।
—भगवती आराधना, विजयोदया, ६/३२/१८

(ङ) दुस्सह-उवसग्गजई आतावण-सीय-वाय-खिण्णो वि । जो णवे खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स । —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा, ४५०

५२. (क) ऊर्ध्वाकधियनैः शवादियनैर्वीरासनाद्यसनैः····· सद्ध्यानिसिद्ध्यै भजेत् ।
—अनगारधर्मामृत, ७/३२/६८३

(ख) आतपस्थान वृक्ष मूलोनिवासो निरावरणशयनं बहुविध प्रतिमा स्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९

(ग) आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं । जं करइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो । —वसुनन्दि श्रावकाचार, ३५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(घ) राजवार्तिक, ९/१९/१३/६१९/१५

(ङ) ठाणस्सणाराणेहिं य विविहहिं पडग्गयेहिं बहुगेहिं।
अणुविचि परिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ।।
—मूलाचार, मूलगाथा, ३५६

(च) सतविधे कायकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—ठाणातिए, उक्कुडयासणिए, पडिमठाई, वीरासणिए, णेसज्जिए, दण्डायतिए, लगडसाई ।
—स्थानाङ्ग सूत्र, ७/४९

(छ) ठाणावीरासणाइया जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहिया ।।
—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/२७

(ज) औपपातिक सूत्र, ३६

(झ) मूलाराधना, ३/२२२

(त) तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीय वृत्ति, ९/१९

(थ) भगवती सूत्र—२५/७/११७

५३. (क) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
—लेखक, मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृष्ठ २८३-२८५

(ख) परीषहस्यास्य च को विशेषः ? यदृच्छोपनिपतितः परीषहः स्वयंकृतः कायक्लेशः ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९/४३९/१

(ग) यहच्छाया समागतः परीषहः स्वमेवकृतः कायक्लेशः, इति परीषह कायक्लेशयोर्विशेषः ।
—तत्त्वार्थ सूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति, ९/१९

५४. (क) किमट्ठमेसो करिदे ? सीद-वादादवेहिं बहुदोववासेहिं तिसा-छुहादि-वाहाहिं विसंट्ठुलासणेहिं य ज्झाण परिचयट्ठं·····ओत्थअस्सज्झाणाणुक्तीदो । —धवला, १३/५,४,२६

(ख) चारित्रसार, १३६

(ग) श्रावकोवीर चयहिः प्रतिमातापनादिषु । स्यान्नाधिकारी सिद्धान्त-रहस्याध्ययनेऽपि च ।।
—सागार धर्मामृत, ७/५०

५५. से किं ते पडिसंलीणया ? चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—इंदियपडिसंलीणया, कसायपडिसंलीणया, जोग पडिसंलीणया विविक्त सयणासण पडिसंलीणया ।
—औपपातिक सूत्र, १९

५६. उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/८

५७. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ९/१९

(ख) मूलाराधना, ३/२२८, २९, ३२

५८. भगवती सूत्र, २५७

५९. आचारांगनिर्युक्ति, १८९

६०. (क) जो रागदोसहेदूआसणसिज्जादियं परिच्चयइ ।
·····एदं तवं होदि ।।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४७-४४९

(ख) शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तु पीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यानमबाधात्यय ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानादि प्रसिद्ध्यर्थं कर्त्तव्यमिति पञ्चमंतपः ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/१९

(ग) कलहो बोलो झंझावामोहोममत्ति च·····पंच समिदो तिगुत्तो आदट्ठ परायणोहोदि ।
—भगवती आराधना, २३२-२३३

(घ) गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा ।
ठाणं विराग—बहुल धीरो भिक्खूणि सेवेऊ ।।
—मूलाचार, ९५०

(ङ) कृतिमाश्च शून्यागारादियो मुक्त मोचितावासा ।
अनात्मोद्देश्यनिर्विंतिता निरारम्भाः सेव्याः ।।
—राजवार्त्तिक, ९/६/१६

(च) गंधव्वणट्ट जट्ठस्सचक्क जंतग्गि कम्म फरुसे य ।·····समाधीए बाधादो ।
—भगवती आराधना, ६३३, ६३४

६१. (क) प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम् ।
—धर्मसंग्रह, अधिकार ३

(ख) अपराधो वा प्रायः चित्तं शुद्धिः । प्राय सचित्तं प्रायश्चित्तं-अपराधविशुद्धिः ।
—राजवार्त्तिक, ९/२२/१

(ग) कायवरोहेण मसंवेयणिव्वेएण मगावराहणिरायं रहरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं । —धवला, १३

(घ) प्रमाददोष परिहारः प्रायश्चित्तम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/२०

(ङ) पावं छिंदई जम्हा पायच्छित्तं त्ति भण्णइ तेण ।
—पंचाशक-सटीक, १६/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(च) पायच्छित्तं ति तवो जेण.....बामाइ ।
—मूलाचार गाथा, ३६१ व ३६३

(छ) जो चिंतइ अप्पाणं णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी ।
विकहविरतचितो पायच्छित्तं वरं तस्सं ॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४५५

(ज) पायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम् ।
—नियमसार (तात्पर्याख्यावृत्ति), ११३

(झ) प्रायोलोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धि कृत्क्रिया ।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥
—अनगार धर्मामृत, ७/३७

६२. आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय विवेकव्युत्सर्गतपछेद परिहारोपस्थापनाः । —तत्त्वार्थ सूत्र, ६/२२

६३. (क) आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तवछेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥
—मूलाचार, गाथांक, ३६२

(ख) चारित्रसार १३७/३

(ग) धवला, १३/५, ४, २६

(घ) औपपातिक सूत्र, २०

(ङ) से किं तं पायच्छित्तेण दसविहे पण्णत्ते, त जहा—आलोयणारिहे जाव पारांचियारिहे । से त्तं पायच्छित्ते । —भगवती सूत्र, २५/७/१२५

(च) उत्तरज्झयणाणि, द्वितीय भाग, अध्ययन ३०, श्लोक ३१, टिप्पण संख्या ११

६४. णवविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते.....अणवट्ठप्पारिहे ।
—स्थानांग सूत्र ६/४२

दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते.....पारंचियारिहे ।
—स्थानांग सूत्र, १०/७२

६५. (क) पूज्येष्वादरो विनयः ।
—सर्वार्थसिद्धि, ६/२०/४३६/७

(ख) दंसणणाण चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो ।
वारस भेदे वि तवे सो च्चिए विणयो हने तेसिं ॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४५७

(ग) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्ष साधनेषु.....विनय सम्पन्नता ।
—राजवार्तिक, ६/२४/२/५२६/१७

(घ) रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः ।
—धवला, १३/५,४,२६/६३/४

(ङ) विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः ।
—भगवती आराधना विजयोदया ३००/५११/२१

(च) जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चाउरंत मोक्खायं ।
तम्हा उ वयंति वि उ विणयति विलीण संसारा ॥
—स्थानांग वृत्ति, ६

(छ) मूलाचार, गाथा १८८ से २१२ तक

६६. विणओ तिविहो णाण-दंसण-चरित्त विणओत्ति ।
—धवला, ८/३,४१/८८

६७. (क) ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारः ।
—तत्त्वार्थसूत्र, ६/२३

(ख) चारित्रसार, १४७/५

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र, ७/३०

६८. लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामंतते य ।
भय विणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्ख विणओ य ।
—मूलाचार, गाथांक, ५८०

६९. (क) भगवती सूत्र, २५/७/१२६-१४१

(ख) औपपातिक सूत्र ४०

(ग) सत्तविहे विणये पण्णत्ते, त जहा—णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वय-विणए, कायविणए, लोगोवयार विणए ।
—स्थानांग सूत्र, ७/१३०

७०. स्थानांग सूत्र, ४/२

७१. (क) एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमोपसे मोक्खो ।
—दशवैकालिक सूत्र, ६/२/२

(ख) ज्ञानदर्शनचारित्रतप सामतीचाराः अशुभक्रियाः ।
तासाम पोहनं विनयः ।
—भगवती आराधना, विजयोदया ६

७२. (क) व्यापत्ति व्ययनोदः पदयोः संवाहनं च गुणवत्सु ।
वैयावृत्यं या वानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनां ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ११२

www.jainelibrary.org

(ख) व्यापदि यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् ।
—धवला, १३/५,४,२६/६३/६

(ग) तेषामाचार्यादीनां व्याधि परीषहः मिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्त पान प्रतिश्रय पीठ फलक संस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्व प्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्यम् । बाह्यस्यौषधभक्तपानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिंघाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तादानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्त्यमिति कथ्यते ।
—राजवार्तिक, ६/२४/१५-१६/६२३/३१

(घ) जो उवयरदि जदीणं उवसग्ग जराइ खीर कायाणं । पूषादिसु णिरवेक्ख वेज्जावच्चं तवो तस्स ।।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा ४५६

(ङ) कायापीडा दुष्परिणामव्युदासार्थं कायचेष्ट्या द्रव्यान्तरेणोपदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यं । —चारित्रसार, १५०/३

(च) अनगार धर्मामृत, ७/७८/७११

(छ) गुणवद् दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ६/२४/३३६/३

(ज) जैन-धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
लेखक—मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृष्ठ ४२२-४२३

७३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, २६/३

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र, ५/१

(ग) ताए एवं विहाए एक्काए (वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए) । —धवला, ८/३, ४१/८८/१०

(घ) वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीतिमन्यते ।
—भगवती आराधना, मू० व वि० ३२६/५४१

७४. (क) गुणधीए उवज्झाए तवस्सिसिस्से य दुब्बले । साहुगणे कुलसंघे समणुण्णं य चापदि ।
—मूलाचार गाथाङ्क, ३६०

(ख) आचार्योपाध्याययतपस्विशैक्षग्लानगणकुल संघसाधु मनोज्ञानाम् । —तत्त्वार्थ सूत्र, ६/२४

(ग) धवला, १३/५,४,२६/६३/६

(घ) भावपाहुड, टीका, ७८/२२४/१६

(ङ) दशविधे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—आयरियवेयावच्चे, उवज्झायवेयावच्चे थेरवेयावच्चे, तवस्सिवेयावच्चे, गिलाणवेयावच्चे, सेहवेयावच्चे कुलवेयावच्चे, गणवेयावच्चे, संघवेयावच्चे, साहम्मियवेयावच्चे ?
—स्थानाङ्ग सूत्र, १०/१७

(च) से किं वेयावच्चे ? वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते, तं जहा·····से त्तं वेयावच्चे ।
—भगवती सूत्र, २५/७/१४२

(छ) औपपातिक सूत्र, २०

७५. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ५/२१

(ख) जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
—लेखक—मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज, पृष्ठ ४४०-४४१

७६. (क) सुष्ठु आ—मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय ।
—स्थानाङ्ग अभयदेववृत्ति, ५/३/४६५

(ख) अज्झयणम्मि रओ सया—अज्झयणं सज्झाओ भण्णइतम्मि सज्झाए सदा रतो भविज्जति ।
—दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि, २८७

(ग) स्वाध्याये—वाचनादौ ।
—दशवैकालिक हरिभ० वृत्ति, २३५

(घ) स्वस्मैहितोऽध्यायः स्वाध्यायः ।
—चारित्रसार, १५२

(ङ) स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मारणं च । —चारित्रसार, ४४

(च) अनगार धर्मामृत, ७/८२

(छ) बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधैः ।
—मूलाचार, ४४

(ज) अगगबाहिर-आगम-वायण-पुच्छणाणुपेहा-परियट्टण धम्मकहाओ सज्झाओ णाम ।
—धवला, १३/५,४,२६

www.jainelibrary.org

(झ) पूयादिसु णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो पठेइ भत्ती ।
कम्ममल सोहणट्ठंसुय—लाहो सुहयरो तस्स ।।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४६२

७७. चारित्रसार, पृष्ठ ४४; पंक्ति ३

७८. (क) मूलाचार, गाथांक ३९३
(ख) प्रच्छन्नं संशयोच्छित्यै निश्चित-दृढनाम वा ।
प्रश्नोऽधीति प्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि ।।
—अनगार धर्मामृत, ७/८४
(ग) पंचविहे सज्झाए पण्णत्ते, तं तहा—वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा ।
—स्थानाङ्ग, ५/२२०
(घ) वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।
—तत्त्वार्थसूत्र ९/२५
(ङ) भगवती सूत्र, २५/७

७९. धवला, पुस्तक सख्या ९, खण्ड ४, भाग १, गाथा ११९

८०. स्थानाङ्ग सूत्र, अध्याय ४ गाथा ३

८१. आवश्यकनिर्युक्ति, ९१

८२. आवश्यकनिर्युक्ति, ९८

८३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २९, गाथा २८
(ख) बहुभवे संचियं खलु सज्झाएण खणे खवई ।
—चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

८४. सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो ।
—उत्तराध्ययन सूत्र, २६/१०

८५. भगवती आराधना, मूल, गाथा संख्या १०४

८६. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार संख्या १, गाथा ५१

८७. सर्वार्थसिद्धि, अ० ९, सू० २५, पृष्ठ ४४३

८८. आत्मानुशासन, श्लोक १८९

८९. 'स्वाध्याय : एक उत्कृष्ट तप लेखक—राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट, स्वाध्याय प्रेमी स्मृति अंक (जयगुंजार मासिक) अक्टूबर-नवम्बर १९८०, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ ८७

९०. (क) ....एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम् ।.....
—तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७
(ख) चित्तावत्थाणमेवा वत्थुम्मि, छउमत्थाणं झाणं ।
—ध्यानशतक, गाथा ३
(ग) ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेक प्रत्यय संतितः ।
—अभिधान चिन्तामणिकोष, आचार्य हेमचन्द्र, १/४८
(घ) चित्तस्सेगग्गया हवई झाणं ।
—आवश्यकनिर्युक्ति, १४५६
(ङ) यत्युनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् । अस्तितर ध्यानमत्रापिक्रमोनाप्यक्रमोऽर्थतः ।
—पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ८४२
(च) एकाग्र ग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये । व्यग्रं हि ज्ञानमेवस्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ।
—तत्त्वानुशासन, ५९
(छ) चित्त विक्षेपत्यागो ध्यानम् ।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/२०

९१. यथामानसिकं ध्यायमेकाग्रं निश्चलं मनः ।
.....
.....
दृष्टां वर्जयतो ध्यानं वाचिकं कथितं जिनैः ।।
—लोकप्रकाश, ४२१-४२२

९२. भारतीय योगसाधना में ध्यान
लेखक—राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट, तुलसी प्रज्ञा, अंक ११-१२, फरवरी-मार्च, १९८२, पृष्ट ९७

९३. उत्तराध्ययन सूत्र, ३०/९

९४. (क) तत्त्वार्थसूत्र, ९/२०
(ख) मूलाचार, ३६०

९५. (क) भगवती सूत्र, २५/७/१३
(ख) आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि —तत्त्वार्थसूत्र, ९/२८
(ग) भगवती आराधना मूल, १९९९-१७००
(घ) अनगारधर्मामृत, ७/१०३/७२७

९६. (क) तत्रार्त बाह्याध्यात्मिक भेदात् द्विविकल्पम् ।
—चारित्रसार, १६७, १७०, १७२/३
(ख) भगवती सूत्र, १५/७/१४५-१४६-१४७-१४८
(ग) ज्ञानार्णव, २५
(घ) महापुराण, २१/३१
(ङ) द्रव्यसंग्रह, ४८

www.jainelibrary.org

(च) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७५-४७६
(छ) तत्त्वानुशासन, ४७-४९
(ज) स्थानाङ्ग ४/६५-७१
(झ) राजवार्तिक, १/७/१४
(त) हरिवंश पुराण, ५६/३८-५०
(थ) धवला, १३/५,४,२६
(द) मूलाचार, ३९८

९७. (क) समवायांग, १४वाँ समवाय
(ख) समयसार, गाथाङ्क ५५

९८. (क) कर्मग्रन्थ, ४/२
(ख) समवायाङ्ग, १४/१
(ग) गोम्मटसार, गाथा १२/१३

९९. भारतीय योगसाधना में ध्यान, लेखक—राजीव प्रचंडिया एडवोकेट, तुलसीप्रज्ञा, अंक—११-१२, फरवरी, मार्च १९८२

१००. (क) निःसंग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ९/२६/१०

(ख) बाह्यास्यन्तरदोषा ये विविधाः बन्धहेतवः।
येस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते॥
—अनगार धर्मामृत, ७/९४

(ग) सरीराहेसु हु मणवयण पवुत्तीओ ओसारियज्झेयम्मि। एयग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम॥
—धवला, ८/३,४१/८५

१०१. (क) कायार्हपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणु सग्गं जो झावइणिव्वि अप्पेण॥
—नियमसार, १२१

(ख) नियमसार, तात्पर्याख्यावृत्ति, ७०

(ग) परिमितकाल विषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः।
—राजवार्तिक, ६/२४/११

(घ) देहे ममत्व निरासः कायोत्सर्गः।
—भगवती आराधना वि० ६/३२

(ङ) देवस्सियणियमादिसु जहुत्त माणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणा चिन्तण जुत्तोकाओसग्गो तणुविस्सगो।
—मूलाचार, २८

(च) जल्लमललित्तगत्तो दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो।....
.....देहेविणिम्ममत्तो काओसग्गो ताओ तस्स॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४६७-४६८

१०२. आवश्यकनिर्युक्ति, १५४९

१०३. जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
लेखक—मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, पृ० ५२३

१०४. (क) से किं दव्वविउसग्गे ? सरीरविउसग्गे, उवहि विउसग्गे, भत्तपाण विउसग्गे। से त्तं दव्व विउसग्गे। —भगवती सूत्र, २५/७/१५०

(ख) से किं ते भावविउसग्गे ? भावविउसग्गे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—कसायविउसग्गे, संसारविउसग्गे, कम्मविउसग्गे।
—भगवती सूत्र, २५/७/१५१

(ग) बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।
—तत्त्वार्थसूत्र, ९/२६

(घ) तत्त्वार्थसार, ७/२९

(ङ) मूलाचार, ४०६

(च) चारित्रसार, १५४-१५५

१०५. (क) अमितगति श्रावकाचार, ८/५७-६१

(ख) मूलाचार, ६७३-६७७

(ग) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १४५९-१४६०

(घ) सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवित। दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो भावतो काउस्सग्गो झाणं॥
—आवश्यकचूर्णि

(ङ) धर्म-दर्शन : मनन और मूल्यांकन
लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० १२८

१०६. आत्माऽऽत्मीय संकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। व्युसर्जनम्-व्युत्सर्गस्त्यागः।
—सर्वार्थसिद्धि, ९/२०-२२-२६